AMOGHVARTA
ISSN : 2583-3189

संस्कृत साहित्य में रस विवेचन – एक अध्ययन

ORIGINAL ARTICLE

Author
डॉ. पिंकी निशा
संस्कृत विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना, बिहार, भारत

शोध सार

रस विवेचन संस्कृत काव्य शास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त रहा है। भरत मुनि से यह परम्परा उद्‌भुत होती है और बहुत आगे तक विमर्श के साथ प्रवाहित होती है। मुख्यतः आठ रसों को ही प्रधान रस माना गया है। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय रूप स्थायिभावों से क्रमशः श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत, इन आठ रसों प्राप्त होते है, और निर्वेद से शान्त नामक नवम रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती आचार्यों ने रस के अनेक भेद किए हैं, जिनमें शांत, वात्सल्य और भक्ति रस को भी प्रधानता मिली है। सहृदय–हृदय में विद्यमान चार प्रकार के भाव क्रमशः श्रृंगार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस को उत्पन्न करता है। पुनः इन चारों से क्रमशः हास्य, अद्‌भुत, भय तथा करुण उत्पन्न होता है। जब हम संस्कृत साहित्य के नाट्य शास्त्र का अनुशीलन करेंगे तो उसमें मुख्यतः आठ रसों को ही प्रधान मानकर उसके अंगों और उपांगों का विवेचन किया गया है।

मुख्य शब्द

रस, भारतमुनि, काव्यलंकार, वाग्वैदग्ध्य, आनन्दस्वरूप, आत्मरूप.

प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य में रस विवेचन के संदर्भ में भरत मुनि को प्रथम और प्रामाणिक आचार्य माना गया है। संस्कृत वांग्मय के सभी आचार्यों ने 'आनन्द' को काव्य का पारायणिक स्रोत बताया है। काव्य का जाया – सम्मित उपदेश आनंदमूलक ही है। काव्य के जायसम्मितत्व लक्षण ही उन्हें प्रभुसम्मित वेदादि और मित्रसम्मित इतिहासादि से भिन्न बनाता हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ सभी प्रकार के काव्यों में चमत्कार या आनंद का कारण रस को ही माना है। काव्य के प्राणतत्व रस को ही माना जाता है और रस की निष्पत्ति करना ही कवि का मुख्य व्यापार बताया गया है– ''रसबंध एव मुख्यतः कविव्यापार विषयः'' काव्य में रसतत्व की समानता के संबंध में भरतमुनि ने शास्त्रीय वादन से अपने 'नाट्यशास्त्र' में सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है वही काव्य विवेचन को उपजीविका के विभिन्न विद्वानों ने विचार किया है। प्रायः आचार्यों ने रस के नौ भेद ही स्वीकार किये हैं। महर्षि व्यास ने अग्निपुराण में कुल नौ रस को स्वीकार किया है। ये नव रस हैं:

"श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।"
बीभत्सादभुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः।।"[1]

व्यास ने इनमें चार श्रृंगार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स को स्वाधीन (स्वाभाविक) तथा शेष को पराधीन माना है जबकि नाट्याचार्य भरतमुनि ने आठ ही रस को स्वीकार किया हैः

"श्रृंगारहास्यक रुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।"[2]

तात्पर्य यह कि व्यास भरतप्रणीत आठ रस के अतिरिक्त शान्त नामक नवम रस को भी मानते हैं परन्तु रसों के लक्षण निर्धारण क्रम में उन्होंने शान्त रस का लक्षण निर्धारित नहीं किया है जैसे–व्यास के अनुसार राग (प्रणय) से श्रृंगार की उत्पत्ति होती है. असहिष्णुता से रौद्र रस की, उत्साह से वीर रस की, संकोच अथवा ग्लानि से बीभत्स रस की उत्पत्ति होती है। पुनः श्रृंगार रस से हास रस उत्पन्न होता है, रौद्र रस से करुण रस, वीर से अद्भुत रस की निष्पत्ति तथा बीभत्स भयानक रस की निष्पत्ति होती है, परन्तु शान्त रस की उत्पत्ति के विषय में अग्निपुराण मौन है। व्यास के अनुसार इन आठों से भिन्न परब्रह्म का सहजरूप शान्त रस है। दशरूपककार ने रससम्बन्धि अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि सहृदय–हृदय में विद्यमान चार प्रकार के भाव क्रमशः श्रृंगार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस को उत्पन्न करता है। पुनः इन चारों से क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय तथा करुण उत्पन्न होता है इसलिए श्रृंगारादि चार रसों से हास्यादि चार रसों को उत्पन्न माना गया है। इस प्रकार आठ ही रस है क्योंकि मन की चार स्थितियों से चार श्रृंगारादि तथा चार तज्जन्य हास्यादि का ही सम्बन्ध यथोचित प्रतीत होता है, नौ या दस रस का नहीं।

"श्रृंगारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि।।"[3]

धनंजय को शान्त रस स्वीकार नहीं, क्योंकि वह रूपकों के अनुपयुक्त है। यही कारण है कि वे शम जैसे नवें स्थायी भाव को भी स्वीकार नहीं करते ''शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।।"[4] आचार्य मम्मट ने रस के संख्या निर्धारण में अविकल रूप से भरतमुनि का अनुसरण किया है। ''अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता"[5] इस कथन से यह प्रतीत होता है कि काव्य में आठ रस के अतिरिक्त नवाँ रस भी होता हैः

"काव्ये तु शान्तोऽपि नवमो रसः।"[6]
निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।"[7]

अभिनवगुप्त भी ''एवं नव रसा दृष्टाः'' कहकर नाट्य में शान्त रस की स्थिति का माना है। भरत मुनि ने भी अन्ततः नव रसों का प्रतिपादन करते हैंः

"स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताघ्द्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाते च शान्त एवोपलीयते।
एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।।"[8].

शोध भूमि

नाट्यशास्त्र में नाट्य के दृष्टिकोण से रस का विचार किया गया है तथापि वह काव्य के लिए भी सर्वथा उपयुक्त है अतएव पश्चात् नाट्य एवं काव्य के रस में किसी प्रकार का भेद नहीं माना गया है। भरतमुनि ने रस के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग न करते हुए भी उसका प्राधान्य स्पष्ट शब्दों में बतलाया है। रस के बिना नाटकीय किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, इसीलिए उन्होंने रस का आख्यान आदि में ही किया है जिससे रस का प्राधान्य सूचित होता हैः

''तत्र रसानेव तावदादौ अभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसाद् ऋते कश्चिदार्थः प्रवर्तते।।"[9]

उनका कहना है कि जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से पुष्प एवं फल होते हैं, वैसे ही मूलरूप में रस हैं जिनसे भावों की व्यवस्था होती है। इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवभारतीकार ने कहा है कि कविहृदयस्थ बीजरूप रस

से वृक्ष–स्थानीय काव्य होता है, जिसमें अभिनय पुष्पस्थानीय है और सामाजिक रसास्वाद फलस्थानीय इसी से समस्त विश्व रसमय हो जाता है। ''नाट्यशास्त्र'' के बाद और ''दशरूपक'' से पूर्व रस आदि का जितना विस्तृत विवेचन ''अग्निपुराण'' के 339 वें अध्याय में मिलता है उतना और कहीं दूसरी जगह नहीं। इसका कहना है कि ''त्याग के बिना लक्ष्मी की तरह रस के बिना वाणी शोभा को नहीं पाती है। इस आधार पर काव्य–संसार में कवि ही एक प्रजापति है जो अपनी रूचि के अनुसार विश्व का निर्माण करता है।'' काव्य में यदि कवि श्रृंगार होता है तो सम्पूर्ण जगत् रसमय हो जाता है और वही अगर विरागी हुआ तो विश्व नीरस हो जाता है। 'नाट्यशास्त्र' की तरह 'अग्निपुराण' भी बतलाता है कि भाव से हीन न तो रस होता है और न रस से रहित भाव। भाव ही रसों को भावित करते हैं अर्थात् अनुभव के विषय बनाते हैं'

''न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति''।।''[10]

अग्निपुराण का सिद्धान्त है कि काव्य में वाग्वैदग्ध्य अर्थात् वचन चातुरी का चमत्कार रहने पर भी रस ही उसका जीवित है। इस प्रकार अग्निपुराण में रस को काव्य का आत्मस्थानीय माना गया है।

ध्वनि–सम्प्रदाय के प्रधान संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन यद्यपि ''काव्यस्यात्मा ध्वनिः'' इसी सिद्धान्त के पोषक एवं मानने वाले हैं तो भी रस–ध्वनि की ही सर्वोत्कृष्टता उन्हें मान्य हैं। गुण, रीति, वृत्ति, अलंकार आदि की सार्थकता भी उसी में है जब वे रसादि के उत्कर्षक होते हैं। स्वतन्त्र रूप से उसका कोई विशेष महत्व नहीं है इसलिए आनन्दवर्धन ने कहा है कि काव्य की आत्मा वही प्रतीयमान रसादि रूप अर्थ है। इसी से त्तो आदिकवि वाल्मीकि का क्रौंच जोड़ी के वियोग से समुत्पन्न करुण रस का स्थायीभाव शोक श्लोक, अर्थात् काव्य रूप में परिणत हुआः

''काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।''[11]

आनन्दवर्धन ने विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप भेद में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशक्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को माना है और इनको ध्वनि की आत्मा अर्थात् स्वरूप मानकर अंगीभाव से व्यवस्थित कहा है। अतएव काव्य में रसादि का प्राधान्य आनन्दवर्द्धन को सर्वथा अभिप्रेत है, यद्यपि इनके मत में रस से भी अधिक प्राधान्य ध्वनि का है, क्योंकि ध्वनित होने पर ही रसादि चमत्कारक होता है। काव्य में रस की प्राधान्येन अपरिहार्यता मानते हुए आचार्य राजशेखर ने भी रस को काव्य की आत्मा कहा है– 'काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विभाति'। आचार्य भोजराज ने ''सरस्वतीकण्ठाभरण'' तथा श्रृंगार प्रकाश में नवीन प्रकार से रस का विवेचन किया है। अभिमान या अहंकार रूप श्रृंगार ही उनका एक रस है जिससे अन्वित होने पर ही काव्य कमनीय होता है। इसको अभिमान अहंकार–श्रृंगार रस कहने का रहस्य बतलाते हुए भट्ट नरसिंह ने कहा है कि यह रसित, अर्थात् आस्वादित होता है, अतः रस कहलाता है, अनुकूल वेदनीय होने के कारण दुःख का भी सुखत्वेन अभिमान किया जाता है, इसलिए यह अभिमानरूप है। रसिकों द्वारा अहंकार रूप में इसका ज्ञान होता है, अतः यह अहंकार शब्द से कहा जाता है और श्रृंग अर्थात् उच्छ्रय इसी में प्राप्त किया जाता है, अतः इसे श्रृंगार कहते हैं। इस श्रृंगार का महत्व बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि यदि कवि श्रृंगारी होता है तो काव्य रसमय हो जाता है और यदि वह अश्रृंगारी होता है तो सब कुछ नीरस हो जाता है। अतएव उन्होंने समस्त वाङ्मय को वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति में बाँट कर रसोक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट माना है।

आचार्य भट्टनायक ने अपने 'हृदयदर्पण' में रस के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है। इनका मत है कि रस काव्य की आत्मा है। काव्य में अभिधा व्यापार से शब्दार्थ का तथा तत्सम्बन्धी अलंकारों का बोध होता है ओर भावकत्व व्यापार से विभावादि के साधारणीकृत होने पर भोजकत्व या भोगकृति या रसचर्वणा रूप व्यापार से सहृदय रस का भोग अर्थात् आस्वाद करते हैं। काव्य में भट्टनायक ने व्यापार का ही प्राधान्य माना है। शास्त्र में शब्द का और इतिहास–पुराणों में अर्थ का प्राधान्य रहता है। उन दोनों को गौण बनाकर काव्य शब्दों में व्यापार का प्राधान्य रहता है। लोचनकार ने 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' के 'लोचन' में बतलाया है कि यदि व्यापार से रसनात्मक ध्वनन व्यापार

अभिप्रेत हो तो उसमें कोई अपूर्वता नहीं है। यह तो ध्वनिवादियों को भी इष्ट ही है। यदि अभिघारूप व्यापार लिया जाए तो उसका प्राधान्य नहीं माना जा सकता। लोचनकार के गुरू भट्टत्तौत ने अपने 'काव्यकौतुक' में रस के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवेचन उपन्यस्त किया है, उसके अनुसार रस आनन्दस्वरूप होने से काव्य का आत्मरूप है और रस समुदायरूप ही नाट्य है। काव्य में भी जब नाट्यायमानत्व, अर्थात् प्रयोगत्व होता है, तभी आस्वाद होता है। अर्थात् श्रव्य काव्य में भी जब कवि ऐसा वर्णन करता है कि वर्जित विषय पाठक के सामने प्रत्यक्ष भासित होने लगता है तभी सहृदय पाठक रसास्वाद करते हैं।

प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के ''काव्यालंकार सार संग्रह'' की लघुवृत्ति टीका में प्रतिपादन किया है कि काव्य की आत्मा रस है। यद्यपि इन्दुराज अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य भामह, उद्भट आदि के ही अनुयायी हैं तो भी उन्हें भामह आदि की तरह रसादि को रसवत् आदि अलंकार रूप मानना अभीष्ट नहीं है। अतः इन्होंने कहा है कि काव्य और रस में अलंकार्य अलंकारभाव नहीं है, अपितु आत्म–शरीर भाव है। रस काव्य की आत्मा रूप में प्रतिष्ठित हैं और शब्द–अर्थ शरीर रूप में जैसे आत्मा से अधिष्ठित ही शरीर जीवित रहता है, वैसे ही रस से युक्त ही काव्य जीवित रह सकता है इसलिए काव्य की आत्मा रस है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की टीका ''अभिनवभारती'' में तथा 'ध्वन्यालोक' की टीका ''लोचन'' में रस का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। 'लोचन' के द्वारा रस की ध्वन्यात्मकता को सिद्ध कर अभिनव ने ध्वनि के आलोक को देखने के लिए सहृदयों को वस्तुतः लोचन ही दिया है। रसध्वनि के विरोध में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, इन्दुराज आदि के जितने मत प्रचलित थे, सबों का खण्डन कर इन्होंने रसध्वनि का संस्थापन किया है। फलतः बाद में मम्मट आदि आचार्यों को इन्हीं का मत मान्य हुआ। रस की अलौकिकता और उसकी प्रतीयमानता का सयुक्तिक विवेचन का इन्होंने अपने को अमर बनाया है। गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि की सार्थकता रस को उत्कृष्ट करने में ही है।

'ध्वन्यालोक' के लोचन में रस का स्वरूप बतलाते हुए अभिनव ने कहा है कि वह रसादि रूप अर्थ स्वप्न में भी रसादि शब्दों से वाच्य नहीं है और न वह लौकिक ही है किन्तु गुण, अलंकार आदि से उपस्कृत समुचित ललित शब्दों से प्रतिपादित, या यों कहिए कि सहृदय–हृदय में संक्रामित तथा सहृदय के मानस में प्रविष्ट जो विभाव, अनुभाव आदि, उनके द्वारा जब अनादिकालीन रत्यादि वासना उद्बुद्ध हो जाती है तो उसके अनुराग से सुकुमार रूप सहृदय के आनन्द धन चर्वणा रूप व्यापार से रस आस्वादनीय होता है। वह रस केवल काव्य के ध्वनि रूप व्यापार से ही गोचर होता है अतः रसध्वनि रूप कहा जाता है। वह रसादि ध्वन्यगान ही है न कि वाच्य, और वही मुख्यतया काव्य की आत्मा है। आगे चलकर फिर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वह रस व्यंग्य ही है। यद्यपि ध्वनि वस्तु, अलंकार और रस रूप से तीन प्रकार की होती है, परन्तु काव्य की आत्मा वस्तुतः रसध्वनि में ही होता है। वस्तु और अलंकार–ध्वनि का भी पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि वाच्यार्थ से उत्कृष्ट हैं, इसलिए सामान्यतः कहा गया है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है। वस्तुतः काव्य की आत्मा तो रस–ध्वनि ही है।

ध्वनि–सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य मम्मट ने रस, वस्तु, अलंकार रूप त्रिविध व्यंग्य को काव्यसर्वस्व मानते हुए भी गुण के निरूपण में रस का अस्तित्व स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। उन्होंने रस का स्वरूप सम्बन्धी विचार अभिनव आदि के अनुसार ही किया है।

आचार्य रुय्यक अपने 'अलंकारसर्वस्व' में रसादि को ही काव्य का प्राण मानते हैं। ये रसादि अलंकार रूप नहीं हो सकते क्योंकि अलंकार उपकारक होता है और रसादि तो प्रधान रूप से उपस्कार्य हैं इसलिए वाक्यार्थ रूप जो प्रतीयमान रसादि रूप अर्थ वही काव्य का जीवित है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने ''साहित्यदर्पण'' में रस तत्व का सांगोपांग विवेचन अत्यन्त सरल ढंग से किया है। मम्मट के बाद चतुर्दश शतक तक रसादि का इतना विस्तृत विवेचन और किसी ने नहीं किया था। यद्यपि 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में रसतत्व को लेकर कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है क्योंकि अधिकतर मम्मट का ही अनुगमन विश्वनाथ ने किया है, तो भी 'साहित्यदर्पण' का रस–विवेचन अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'साहित्यदर्पण' के आरंभ में भी इन्होंने रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर काव्य

में रस के आत्मत्व का समर्थन किया है। श्रव्य या दृश्य–काव्य में विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव और संचारीभाव के सहृदय–मानस में अनादि काल से विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव जब उद्‌बुद्ध, प्रतीतियोग्य त्तथा परिपुष्ट होकर अभिव्यक्त होता है तो ''रस'' कहलाता है।

रस के काव्यशास्त्रीय स्वरूप को सुस्पष्ट करने के लिए उसके कारण, कार्य एवं सहकारी रूप विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का एवं स्थायी भाव का विवेचन आवश्यक हो जाता है। लौकिक रति आदि में आलम्बन रूप नायक–नायिका एवं उद्दीपनरूप चन्द्र, उपवन आदि जो कारण है, कटाक्ष, रोमांच आदि जो कार्य हैं, तथा चिन्ता आदि जो सहायक तत्त्व हैं, वही जब दृश्य या श्रव्य काव्य में उपनिबद्ध होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव कहलाते हैं। तात्पर्य यह कि कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव एवं सहकारी को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। इन विभावादिकों का संक्षेपण परिचय नीचे दिया जाता है विभावः कायिक, वाचिक एवं सात्त्विक अभिनयों का विभावन, अर्थात् ज्ञान जिसके द्वारा होता है उसे विभाव कहते हैं। चूँकि वाणी एवं अंगों के अभिनयों पर आश्रित अनेक अर्थ विभावित, अर्थात् विशिष्ट रूप से ज्ञात, इसी से होते हैं इसलिए यह विभाव कहलाता है अथवा, सहृदय के गानस में स्थित रत्यादि स्थायी भावों को उद्‌बुद्ध या उद्दीप्त करता है इसलिए इसे विभाव कहते हैं। उद्दीप्त या उद्‌बुद्ध करने के कारण ही विभाव के दो भेद होते हैं– आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव जिसके आलम्बन से रत्यादि स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होते हैं उसे आलम्बन विभाव कहते हैं जैसे रति रूप स्थायी भाव के आलम्बन विभाव हैं नायक और नायिका। उसी स्थायीभाव के उद्दीपक बाह्य पदार्थ को उद्दीपन विभाव कहते हैं, जैसे रति के लिए उद्दीपन है उपवन, कमलाकर, चन्द्र आदि। इन आलंबन और उद्दीपन विभावों से सहृदय के हृदय में रत्यादि स्थायी भाव उद्दीप्त और उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। 'अनु पश्चाद भवन्ति इति अनुभावाः', विभाव के द्वारा उद्‌बुद्ध स्थायीभाव जिसके द्वारा अनुभूयमान, अर्थात् अनुभव के विषय बनते हैं, उसे अनुभाव कहते हैं। विभाव के द्वारा स्थायीभाव जब उद्‌बुद्ध हो जाता है तब वह अपना प्रभाव बाहर व्यक्त करने लगता है। उस समय रत्यादि रूप मनोवासनाओं का विकार कायिक, वाचिक और सात्विक चेष्टाओं द्वारा प्रकट होने लगता है। इन्हीं कटाक्षादि चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं। विभाव के समान ही यह अनुभाव भी प्रत्येक स्थायीभाव का भिन्न–भिन्न होता है। अनुभाव के द्वारा ही स्थायीभाव प्रतीति योग्य बनता है। अतएव भरतमुनि ने कहा हैः

''अथानुभाव इति कस्मात्। उच्यते–अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्ग सत्त्वकृतोऽभिनय इति।''[20] चूँकि वाचिक, आंगिक आदि अभिनयों से सांगोपांग अर्थ का अनुभव किया जाता है, इसलिए वह अनुभाव कहलाता हैः

"वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थो विभाव्यते।
वागङ्गगङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावरततः स्मृतः।।"[13]

सात्त्विक भाव

दूसरे के सुख, दुःख आदि की भावनाओं में उसके अत्यन्त अनुकूल अन्तःकरण का होना ''सत्त्व'' कहलाता है और सत्त्व से उत्पन्न भावों को सात्विक भाव कहते हैं, जैसे दूसरे को आनन्दित देखकर पुलकित होना और दुःखी देखकर आँसू बहाना आदि। सात्त्विक भाव आठ माने गये हैं स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, बेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। यद्यपि ये सभी अनुभाव ही हैं फिर भी नाट्यशास्त्र आदि में इन अनुभावों को 'गोबलीवर्दन्याय' से सात्त्विक भाव कहा गया है। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति शारीरिक गति का विरोध रोमांच, गदगद होने से अनेक आचार्य ने भी सात्त्विक भाव अनुभाव ही माना है। इनमें स्तम्भ, शरीर में पसीने का आना स्वेद, रोंगटें खड़े होना, गले का भर जाना,वेपथु, मोह, भय क्रोध, शीत, आतप आदि से चेहरे का बदलना,वैवर्ण्य, हर्ष, शोक आदि से आँसुओं का बहना, अनु तथा शरीर की चेष्टाओं का सर्वथा विरोध – प्रलय कहलाते हैं।

व्यभिचारीभाव

'वि' और 'अभि' पूर्वक 'चर्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय करने पर व्यभिचारी शब्द बनता है। अतएव जो विशेष रूप से सब अंगों में व्याप्त होकर रत्यादि भावों को शरीर में संचारित करता है या बार–बार अभिव्यक्त करता है, अथवा वाक, अंग और सत्त्व से युक्त होकर नाट्य प्रयोग में रस को प्राप्त करता है उसे व्यभिचारी कहते हैं अथवा, जो विशेष

रूप से अभिमुख होकर, अर्थात् कार्यसम्पादन में अनुकूल बनकर, स्वयं चरणशील होते हैं वे व्यभिचारी कहलाते हैं। इसलिए धनंजय ने कहा है कि जैसे सागर में कल्लोल ऊपर–नीचे करते रहते हैं, वैसे ही सागर रूप स्थायीभाव में विशेष रूप से अभिमुख होकर चलने के कारण ये व्यभिचारी कहलाते हैं:

"विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।।"[14]

व्यभिचारीभाव की स्थिति अनियत रहती है। अतएव कहा गया है कि जो स्थायीभाव के उपकार के लिए आते हैं, और उपकार करने के बाद चले जाते हैं वे ही व्यभिचारी कहलाते हैं। इसी को संचारीभाव भी कहते हैं। भरतमुनि ने दृष्टान्त के द्वारा इसको स्पष्ट किया है कि जैसे सूर्य के साथ व्यवहार होता है कि वे दिन या नक्षत्र को ले जाते हैं या प्राप्त कराते हैं, वे तो बाहु या कन्धों से नहीं ले जाते, वैसे ही यह व्यवहार है कि व्यभिचारीभाव रस को प्राप्त कराते हैं।

व्यभिचारीभाव तैंतीस प्रकार के माने गये हैं: 1. निर्वेद, 2. ग्लानि, 3. शंका, 4. असूया. 5. मद. 6. श्रम, 7. आलस्य, 8. दैन्य, 9. चिन्ता, 10. मोह, 11. स्मृति, 12. धैर्य, 13. ब्रीडा, 14. चपलता, 15. हर्ष, 16. आवेग, 17. जड़ता, 18. गर्व, 19. विषाद, 20. औत्सुक्य, 21. निद्रा, 22, अपस्मार, 23. सुप्त, 24. प्रबोध, 25. अमर्ष, 26. अवहित्थ, 27. उग्रता, 28. मति, 29. व्याधि, 30. उन्माद, 31. मरण, 32. त्रास तथा वितर्क। इनमें तत्त्वज्ञान, आपद्, ईर्ष्या, दैन्य आदि के द्वारा जो अपने में अवमान या तुच्छत्व की बुद्धि होती है उसे निर्वेद कहते हैं। निर्वेद में चिन्ता, अश्रु, निश्वास, वैवर्ण्य, उच्छ्घ्वास, दैन्य आदि होते हैं। तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शान्त रस का स्थायी होता है। अपस्मार में ग्रह, दुःख आदि के आवेश होने पर स्मृति नष्ट हो जाती है। इसमें पृथ्वी पर गिरना, कम्पन, प्रस्वेद आदि होने लगते हैं तथा लार, फेन आदि निकलने लगते हैं। लज्जा आदि के द्वारा हर्षादि मनोभावों के अंग–विकारों का गोपन अवहित्थ कहलाता है। व्यभिचारीरूप मरण का अर्थ है प्राण निकलने का आरंभ। इसमें सम्मोह, इन्द्रियों की निष्क्रियता, गात्राविक्षेप आदि होते हैं अथवा मूर्च्छा को ही मरण कहते हैं।

स्थायीभाव

हम अपने दैनन्दिन जीवन में जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं और अनुभव करते हैं उसका संस्कार मन पर पड़ता जाता है। अनुभव तो क्षणिक होने से नष्ट हो जाता है पर वह संस्कार स्थायी रहता है। यह संस्कार जन्मजन्मान्तर से मनुष्य में आता है। इसी संस्कार का दूसरा नाम है ''वासना''। यही वासना जब उपयुक्त उद्बोधक सामग्री को पाती है तो उद्बुद्ध हो जाती है। उद्बोधक सामग्री जन्मान्तर के भी संस्कारों को या इस जन्म के भी देश–देशान्तर, काल आदि से व्यवहित संस्कारों को प्रबुद्ध कर देती है। योगदर्शन का भी यही सिद्धान्त है कि ये संस्कार अनादिकाल से आ रहे हैं और इनका उद्बोध जाति, देश, काल आदि के व्यवधान होने पर भी होता है। इसी संस्कार या वासना को स्थायीभाव कहते हैं। यह स्थायीभाव लवणाकर के समान माना गया है जैसे लवणाकर में डाला गया कोई भी पदार्थ घुल–मिलकर नमक ही बन जाता है, वैसे ही जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होता हुआ दूसरे पदार्थों को आत्मसात् कर लेता है, वह स्थायीभाव है। यद्यपि जन्म–जन्मान्तर से आते हुए इन विभिन्न संस्कारों का परिगणन कठिन ही नहीं असम्भव है, तो भी भरत आदि प्राचीन मुनियों ने उन संस्कारों का वर्गीकरण किया है। महामुनि भरत ने उन्हें आठ प्रकार का माना है। वे आठ स्थायी भाव हैं:

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।"[15]

इस प्रकार इन समस्त स्थायी भावों को आचार्यों ने इस प्रकार परिभाषित किया है:

- **रतिः** व्यास के अनुसार सुख के मनोनुकूल अनुभव का नाम रति है– 'मनोनुकोलेऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते।'[16] जबकि भारत आमोदात्मिक भाव को रति की ओर इशारा करते हैं तथा रति की उत्पत्ति का कारण इष्ट पदार्थ की प्राप्ति है– 'रतिर्नाम प्रमोदात्मिका.... । इष्टार्थ–विषय–प्राप्तया रतिः समुपजायते।' आचार्य धनंजय ने रति

आदि प्रतिष्ठित भावों के पृथक्करण लक्षण निर्धारित नहीं किए हैं। आचार्य मम्मट ने अग्निपुराणोक्त रति–लक्षण की पुनरावृति की है, जबकि विश्वनाथ प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उत्कट उन्मुखता को रति कहते हैः

"रतिर्मनोनुकुलेर्थे मनसः प्रव्णायितम्"

- **हासः** व्यास के अनुसार हर्षादि से मन का जो विकास होता है, उसे हास कहते हैं– हर्षादिभिश्च मनसो विकासो हास उच्यते। भरत के मतानुसार अन्य व्यक्तियों की चेष्टाओं की नकल करने पर हास उत्पन्न होता है– ''परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते।"[17] मम्मट ने व्यास के लक्षण का ही समर्थन किया है। वहीं आचार्य विश्वनाथ वाणी आदि की विकृतियों के दर्शन अथवा चिन्तन से संभूत चित्तविकास को हास कहते हैं–''वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते''।[17]
- **शोकः** अग्निपुराण के अनुसार प्रियवस्तु के विनाशादि से मन में होने वाली विकलता का नाम शोक है–श्मनोवैक्लैव्यमिच्छन्ति शोक–मिष्टक्षयादिभिः। भरतमुनि शोक उत्पत्ति के निम्न कारण बताते हैं–प्रियजन के वियोग (नाश), सम्पत्तिनाश, इष्ट व्यक्ति के वध, बन्धन तथा दुःखानुभव इत्यादि। ''शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधाबन्धदुःखानु–भवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।"[19] मम्मट तथा विश्वनाथ ने अग्निपुराणोक्त शोकलक्षण का समर्थन किया हैः

''इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोक–शब्दभाक्।"[20]

- **क्रोधः** व्यास के अनुसार किसी प्रतिकूल परिस्थिति में समुत्पन्न तीक्ष्णता का नाम क्रोध है–''क्रोधास्तैक्ष्ण्यं प्रबोधश्च प्रतिकूलानुकारिणी।''[21] भरत के मतानुसार शत्रु आदि को पकड़ने, गाली देने, झगड़ने या लड़ने तथा विरोध करने आदि से क्रोध की उत्पत्ति होती है। ''क्रोधो नाम आधर्षणाकुष्टकलहविवादप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।''[22] मम्मट ने अग्निपुराण का ही अनुसरण किया है तथा विश्वनाथ ने विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न तीव्रता (प्रतिशोध भावना) को क्रोध की संज्ञा दी है– 'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते।' ''पुरुषानुसमोऽप्यर्थी यः स उत्साह उच्यते।''[23]
- **उत्साहः** नाट्याचार्य उत्साह उत्तम प्रकृति के पात्रों में ही मानते हैं तथा यह विषादहीनता, शक्ति, धैर्य, शौर्य आदि से उत्पन्न मानते हैं– ''उत्साहो नाम–उत्तम प्रकृतिः। स चाविषादशक्ति धैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।''[24] मम्मट भी अग्निपुराणोक्त पौरूष रूप उत्साह का समर्थन करते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार कार्यों के आरम्भ में स्थैर्यशाली जो हृदय का आवेश अथवा उद्योग है, वही उत्साह है–''कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।''[25]
- **भयः** व्यास के अनुसार किसी चित्र अथवा भयंकर दृश्य को देखने से चित्त में उत्पन्न व्याकुलता, भय कहलाता है– 'चित्रादिदर्शननाच्चेतो वैक्लव्यं ब्रुवते भयम्।' भरतमुनि स्त्री एवं नीच प्रकृति के पात्रों में भय को मानते हैं। नाट्याचार्य,भय उत्पत्ति के निम्न कारण मानते हैं– ''गुरुराजापराधाश्वापदशून्यागाराटवीपर्वतगहनगजाहि दर्शननिर्भर्त्सनकान्तारदुर्दिन–निशान्धकारो लूकनक्तश्चरारावश्रणादिभिः समुत्पद्यते।''[26] मम्मट ''व्यास के मतानुसार चित्त व्याकुलता को भय मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ भी चित्त की व्याकुलता को ही भय मानते हैं तथा इस व्याकुलता का कारण भीषण वस्तु की विभीषिका शक्ति मानते हैं– ''रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम्।"[27]
- **जुगुप्साः** व्यास जुगुप्सा का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं कि गन्दी वस्तुओं के निन्दात्मक भाव का नाम जुगुप्सा है– ''जुगुप्सा च पदार्थानां निन्दा दौर्भाव्यवाहिनाम्।''[28] भरत के अनुसार भय की भाँति जुगुप्सा भी स्त्री तथा नीच पुरूष का विषय है। व्यास ने सम्भवतः भरतप्रोक्त लक्षण का ही अनुसरण किया है। भरत के अनुसार घिनौनी वस्तुओं के दर्शन, श्रवण तथा कथन ये तीनों जुगुप्सा उत्पत्ति के कारण हैं– "जुगुप्सा नाम स्त्रीनीच–प्रकृतिका। सा चाहृद्यदर्शनश्रवणपरिकीर्तनादिभिः समुत्पद्यते।'' मम्मट ने अन्य स्थायीभावों की भाँति जुगुप्सा के लक्षण निर्धारण में व्यास का समर्थन किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जुगुप्सा का अभिप्राय किसी घृणास्पद वस्तु के दोष–दर्शन आदि से उत्पन्न अथवा विस्मयजनित घृणाभाव का नाम है "दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयो।''

विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव, संचारीभाव तथा स्थायीभावों का यही संक्षिप्त परिचय है। इन्हीं विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के परस्पर संयोग से रत्यादि भावों का सहृदय आस्वाद करने लगते हैं इसलिए आचार्य मम्मट ने कहा है कि लौकिक रत्यादि के कारण, कार्य तथा सहकारी काव्य–नाटक में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव होते हैं। इन्हीं विभावादियों से अभिव्यक्त स्थायीभाव ''रस'' कहलाता है। इनमें आलम्बन और उद्दीपन विभाव स्थायीभाव को उद्‌बुद्ध करते हैं। साधारण या सात्विक रूप अनुभाव उसको प्रतीति योग्य बनाते हैं तथा व्यभिचारी या संचारी उसको परिपुष्ट करते हैं। इन सबों के सम्मिलित संयोग से रत्यादि स्थायीभाव आस्वादन योग्य हो जाता है। इस अवस्था में विभाव आदि का पृथक् रूप से भान नहीं होता है, जैसे 'पानक रस' में मरीच, कर्पूर आदि का पृथक् आस्वाद नहीं होता है, अपितु सबों का मिला हुआ एक रसास्वाद होता है, वैसे ही स्थायीभाव का भी आस्वाद समूहालम्बनात्मक ही होता है, जब आस्वाद ही रस है तब ''रस का आस्वाद'' यह प्रयोग 'राहु के शिर' के समान औपचारिक माना जाता है।

निष्कर्ष

भाव और व्यवहार के भेद से रस के अनेक भेद हैं। यह अभी अनुशीलन आया विषय है। मुख्य आठ रसों के इतर भी आचार्यों ने अनेक रसों की कल्पना भी की है। उन रसों को भी आज साहित्य में स्थान मिल चुका है। आचार्यों ने स्नेह, भक्ति और वात्सल्य को पृथक् रस माना है। अभिनवगुप्त ''आर्द्रता'' नामक स्थायीभाव वाला स्नेह रस को मानते हैं– 'आर्द्रता स्थापिकः स्नेहो रस इति त्वसत्।' भोज ने श्रृंगारप्रकाश में एकमात्र श्रृंगार को रस माना है।

आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट वाणी में शान्त को भी रस के रूप में स्वीकार किया है– 'अष्टी रसाः शान्तस्तथा मतः।' कविवर भवभूति ने करुण को ही एक मात्र रस माना है तथा अन्य रसों को उसका विवर्त्त कहा है– "एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।।''

इस प्रकार आचार्यों के द्वारा स्थायीभाव के आस्वाद रूप से मुख्यतः रस आठ या नौ प्रकार के माने गए हैं। अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय रूप स्थायिभावों से क्रमशः श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत, इन आठ रसों की निष्पत्ति होती है तथा निर्वेद रूप स्थायीभाव से शान्त नामक नवम रस की निष्पत्ति होती है।

संदर्भ सूची

1. द्विवेदी, आचार्य शिवप्रसाद (2009) *अग्निपुराणम्,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, श्लोक संख्या 8 और 9 / अध्याय 339 / पृ. 735।
2. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 16 / 6 / पृ. 218।
3. त्रिपाठी, रमाशंकर (2017) *दशरूपक,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 44 / 4 / पृ. 327।
4. वही, पृ. 327।
5. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 15 / 6 / पृ. 218।
6. वही, पृ. 218।
7. सिंह, सत्यव्रत (1955) *काव्यप्रकाश,* चौखम्भा विद्याभवन, बनारस, 44 / 4 / पृ. 93।
8. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 87 / 6 / पृ. 364।
9. वही 32 / 6 / पृ. 228।
10. द्विवेदी, आचार्य शिवप्रसाद (2009) *अग्निपुराणम्,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 12 / 339 / पृ. 737।
11. पाठक, आचार्य जगन्नाथ (1979) *ध्वन्यालोकः,* चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 05 / 01 / पृ. 87।

12. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 4 / 7 / पृ. 374 ।
13. वही, 5 / 7 / पृ. 375 ।
14. त्रिगुणायत, गोविन्द (1966) *हिंदी दशरूपक:,* साहित्य निकेतन, कानपुर, 4 / 7 / पृ.172 ।
15. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 18 / 6 / पृ. 221 ।
16. द्विवेदी, आचार्य शिवप्रसाद (2009) *अग्निपुराणम्,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 13 / 339 / पृ.737 ।
17. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 10 / 7 / पृ. 381 ।
18. विश्वनाथ (1961) *साहित्य दर्पण,* मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन हाउस, वाराणसी, 176 / 3 / पृ.227 ।
20. वही, 166 / 3 / पृ. 228 ।
21. द्विवेदी, आचार्य शिवप्रसाद (2009) *अग्निपुराणम्,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 15 / 339 / पृ. 737 ।
22. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 7 / 381 ।
23. विश्वनाथ (1961) *साहित्य दर्पण,* मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन हाउस, वाराणसी, 177 / 3 / पृ. 228 ।
24. वही, पृ. 386 ।
25. वही, पृ. 228 ।
27. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (1972) *नाट्यशास्त्र,* चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 7 / 387 ।
28. द्विवेदी, आचार्य शिवप्रसाद (2009) *अग्निपुराणम्,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 15 / 339 / पृ. 736 ।

——==00==——